

गायत्री मंत्र के **यो** अक्षर की व्याख्या

# धर्म की सुदृढ़ धारणा



● श्रीराम शर्मा आचार्य

# धर्म की सुदृढ़ धारणा

गायत्री का अठारहवां अक्षर 'यो' धर्म-मार्ग पर स्थिर रहने का आदेश देता है—

यो धर्मा जगदाधारः स्वाचरणो तमानय,  
मा विडम्ब्य तं स ते ह्येकामार्गं सहायकः ॥

अर्थात्—“जो धर्म संसार का आधार है, उस मार्ग पर आचरण करो । उसकी विडम्बना मत करो । धर्म ही तुम्हारा एक मात्र सहायक है ।”

धर्म ही संसार का आधार है । उसके ऊपर विश्व का समस्त भार रखा है । यदि धर्माचरण उठ जाय तो सबको अपने प्राण बचाने और दूसरों को कुचलने की चिंता में निश-दिन डूबा रहना पड़ेगा और कोई भी चैन से न बैठ सकेगा ।

दुष्ट लोग भी धर्म की आड़ में लाभ उठाने, ठगी का जाल फैलाने की चेष्टा करते हैं । इससे मालूम होता है कि धर्म ही ऐसी मजबूत चीज है, जिसका आश्रय लेकर बुरे मनुष्य भी अपना काम चलाना चाहते हैं । मनुष्य को ऐसे सुदृढ़ आधार पर ही जीवन की इमारत का निर्माण करना चाहिए ।

दान-पुण्य, धार्मिक कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ आदि तो धर्म का एक साधन मात्र हैं । वास्तविक धर्म तो कर्तव्य पालन, दूसरों की सेवा, परोपकार, सच्चाई और संयम में है । इन्हें विचार और कार्यों में भली प्रकार स्थान देने वाला ही वास्तव में धर्मात्मा माना जा सकता है ।

धर्म का आडम्बर करने से, अपने को धर्मध्वजी घोषित करने से कोई लाभ नहीं । धर्म को अपने रक्त में घुला डालो, अपने रोम-रोम में भरलो, जो कुछ सोचो, जो कुछ करो वह सब धर्मानुकूल होना चाहिए ।

दूसरों को धर्माचरण से लाभ उठाते देखकर उनकी नकल करने को मत ललचाओ । कँटि में लिपटा हुआ मांस का टुकड़ा खाकर मछली की जो दशा होती है, जाल के नीचे फैलाये हुए अन्न के दानों को खाकर चिड़िया की जो गति होती है, वही दशा अनीति द्वारा लाभ उठाने वालों की होती है । इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करने की कोई बुद्धिमान और दूरदर्शी मनुष्य आकांक्षा नहीं कर सकता ।

धर्म की सुदृढ़ धारणा )

## धर्म का मूल तत्व

धर्म के सम्बन्ध में बड़ी मत विभिन्नता देखने में आती है । संसार के विभिन्न दूरवर्ती देशों की बात तो जाने दीजिये, अपने ही देश और अपनी ही जाति के लोगों के धार्मिक विचारों और आचरण में जमीन आसमान का अन्तर दिखलाई पड़ता है । अधिकांश लोगों ने तो धर्म को जीवन से अलग एक बाहरी क्रियाकाण्ड की चीज समझ लिया है । अनेक लोग धर्माचरण करना इसलिये जरूरी समझते हैं कि उसने एक सामाजिक रीति रिवाज का सा रूप ग्रहण कर लिया है । पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है जिन्होंने अपनी बुद्धि से धर्म के वास्तविक मर्म पर ध्यान दिया है और जो सोच समझ कर उस पर आचरण कर रहे हैं ।

सृष्टि का निर्माण होने पर जीवों में जब चेतना शक्ति उत्पन्न हुई और वे कुछ कर्तव्य अकर्तव्य के सम्बन्ध में सोचने विचारने लगे तो उनके सामने धर्म अधर्म का प्रश्न उपस्थित हुआ । उस समय भाषा और लिपि का सुव्यवस्थित प्रचलन नहीं था और न कोई धर्म पुस्तक ही मौजूद थी । शिष्य देने वाले धर्म गुरु भी दृष्टि गोचर न होते थे । ऐसी दशा में अपने अन्दर से पथ प्रदर्शन करने वाली जो आध्यात्मिक प्रेरणा जागृत होती थी मनुष्य उसी के अनुसार आचरण करते थे । 'वेद अनादि ईश्वर कृत हैं ।' इसका अर्थ यह है कि धर्म का आदि स्रोत मनुष्यों द्वारा निर्मित नहीं है वरन् सृष्टि के साथ ही अन्तरात्मा द्वारा ईश्वर ने उसे मानव जाति के निमित्त भेजा था । वेद की भाषा या मन्त्र रचना ईश्वर द्वारा निर्मित है यह मान्यता ठीक नहीं, वास्तविकता यह है कि प्रबुद्ध आत्माओं वाले ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वरीय संदेश आये और उन्होंने उन संदेशों को मन्त्रों की तरह रच दिया । प्रायः सभी धर्मों की मान्यता यही है कि "उनका धर्म अनादि है, पैगम्बरों और अवतारों ने तो उनका पुनरुद्धार मात्र किया है ।"

तत्त्वतः सभी धर्म अनादि हैं अर्थात् एक ही अनादि धर्म की शाखायें हैं । उनका पोषण जिस वस्तु से होता है, वह 'सत्' तत्व है । वही धर्म सच्चे ठहर सकते हैं जो सत् पर अवलम्बित हैं । असत् तो वंचना मात्र है । वह अल्प स्थाई होता है और बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है । कोई भी सम्प्रदाय यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि हमारा धर्म 'सत्' पर अवलम्बित नहीं है । इसलिये यह स्वीकार करना ही होगा कि

एक ही अनादि सत्य का आश्रय लेकर धर्म सम्प्रदाय उत्पन्न हुए हैं । यह आदि सत्य हमारी अन्तरात्मा में ईश्वर द्वारा भली प्रकार पुरो दिया गया है । न्याय बुद्धि का आश्रय लेकर जब हम कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय करना चाहते हैं तो अन्तरात्मा उसका सही-सही निर्णय कर देती है । विभिन्न सम्प्रदायों के अपने-अपने स्वतन्त्र धर्म ग्रंथ हैं । वेद, कुरान, बाइबिल, जिन्दावस्ता, धम्मपद आदि असंख्य धर्म शास्त्रों में उसी महान 'सत्' की व्याख्या की गयी है । अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इन महान शास्त्रों ने सत् की व्याख्या की है । फिर भी उन्हें संतोष नहीं हुआ और अपने कथन की अपूर्णता को स्वीकार करते हुए 'नेति' 'नेति' ही कहते रहे । सभी धर्मों में नये सुधारक होते रहे और उन्होंने पुरानी व्याख्या को दोष पूर्ण बता कर अपनी रुचि के अनुसार सुधार किये । इन सुधारकों का कथन था कि उन्हें ईश्वर ने ऐसे ही सुधार करने के निमित्त भेजा है । इन सुधारकों में भी सुधार करने वाले होते आये हैं और वे सब भी धर्माचार्य ही थे । सत्य एक है तो भी उसका प्रयोग करने की विधियाँ बदलती रहती हैं । 'शरीर की ऋतु प्रभावों से रक्षा करनी चाहिए' यह एक सच्चाई है पर इसका व्यवहारिक रूप समय-समय पर बदलता रहता है । जाड़े के दिन में जिन कपड़ों की आवश्यकता थी उनका गर्मी के दिनों में कोई उपयोग नहीं है । इसलिये पोशाक में परिवर्तन करना जरूरी है । यह आक्षेप करना उचित न होगा कि पैगम्बरों ने अपनी बात को ईश्वर की वाणी क्यों कहा ? यदि उनके संदेश ही ईश्वर की वाणी थे तो अनेक धर्मों के पैगम्बर मतभेद क्यों रखते हैं ? इन में से एक को सच्चा माना जाय तो बाकी सब झूठे ठहरते हैं ।' तथ्य बात यह है कि सभी पैगम्बरों की वाणी में ईश्वरीय संदेश था । उन्होंने जो कुछ कहा अन्तरात्मा की पुकार के आधार पर, ईश्वर की आकाशवाणी के संकेत पर कहा । समयानुसार प्रथायें बदलती हैं जैसे कि ऋतुओं के अनुसार पोशाक बदलती है । एक व्यक्ति दिसम्बर के महीने में यह शिक्षा देता है कि ऊनी कोट और स्वेटर पहनो तो उसकी शिक्षा सत्य से, धर्म तत्व से परिपूर्ण है, किन्तु यदि दूसरा व्यक्ति जून के महीने में यह कहता है कि अब ऊनी कोट की या रुई के लिहाफ की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि पतले कपड़े पहनने चाहिए, तो वह भी झूठा नहीं है ।

कई बार साम्प्रदायिक और सामाजिक रीति रिवाजों और मान्यताओं के सम्बन्ध में आपके सामने बड़ी पेचीदा गुत्थी उपस्थित हो सकती है ।

धर्म की सुदृढ़ धारणा )

विभिन्न धर्मों के पूजनीय अवतार और धर्मग्रंथ एक दूसरे से विपरीत उपदेश देते हैं । ऐसी दशा में बड़ा मतिभ्रम होता है कि किसे मानें और किसे न मानें । इस गुत्थी को सुलझाने के लिये आपको यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि अवतारों का आगमन और धर्मग्रंथों का निर्माण समय की आवश्यकता को पूरी करने के लिये होता रहा है । कोई पुराने नियम जब समय से पीछे के हो जाने के कारण अनुपयोगी हो जाते हैं, तो उनमें सुधार करने के लिये नये-नये सुधारक, नये अवतार प्रकट होते हैं । देशकाल और व्यक्तियों की विभिन्नता के कारण उनके उपदेश भी अलग-अलग होते हैं । देश, काल और पात्र के अनुसार वेद एक से चार हुए, कुरान में संशोधन हुआ, बाइबिल तो अनेक अवतारों की उक्तियों का संग्रह है । जब वैदिक ब्रह्मोपासना आवश्यकता से अधिक बढ़ी तो भौतिक वादी वाम मार्ग की आवश्यकता हुई । जब वाम मार्गी हिंसा की अति हुई तो भगवान बुद्ध ने अहिंसा का मार्ग चलाया । जब अहिंसा का रोड़ा मानव जीवन के मार्ग में बाधा देने लगा तो शंकराचार्य ने उसका खण्डन करके वेदान्त का प्रतिपादन किया । इसी प्रकार समस्त विश्व में धार्मिक और सामाजिक अन्तर होते रहते हैं । साम्प्रदायिक नियम और व्यवस्थाओं का अस्तित्व समयानुसार परिवर्तन की धुरी पर घूम रहा है । देश, काल और पात्र के भेद से इनमें परिवर्तन होता है और होना चाहिए । एक नियम एक समय के लिये उत्तम है तो वही कालान्तर में हानिप्रद हो सकता है । गर्मी की रातों में लोग नये बदन सोते हैं पर वही नियम सर्दी की रातों में लागू किया जायगा तो उसका बड़ा घातक प्रभाव होगा ।

संसार के अनेक धर्मों के आदेशों को सामने रखें, उनके सिद्धान्त और आदेशों पर दृष्टिपात करें तो वे बहुत बातों में एक दूसरे से बिपरीत जाते हुए प्रतीत होते हैं, उनमें विरोधाभास भी दिखाई देता है, परंतु वास्तव में भ्रम में पड़ने की कोई बात नहीं है । अन्धों ने एक बार एक हाथी को छूकर देखा और वे उसका वर्णन करने लगे । जिसने पैर छुआ था उसने हाथी को खम्भा जैसा, जिसने पूंछ छुई थी उसने बांस जैसा, जिसने कान छुआ था उसने पंखे जैसा, जिसने पेट छुआ था उसने चबूतरे जैसा बताया । वास्तव में वे सभी सत्य वक्ता हैं क्यों कि अपने ज्ञान के अनुसार सभी ठीक कह रहे हैं । उनका कहना उनकी परिस्थिति के अनुसार ठीक ही है । परन्तु उसे पूरा नहीं माना जा सकता । देश, काल

और पात्र की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अवतारी आत्माओं ने विभिन्न समयों पर विभिन्न धर्मों का उपदेश दिया है । भगवान महावीर को एक मांस भोजी निषाद मिला । उन्होंने उसे मांस भोजन त्याग देने के लिये बहुत समझाया पर कुछ भी असर न हुआ । तब उन्होंने सोचा कि इसकी मनोभूमि इतनी निर्मल नहीं है जो अपने चिरकाल के संस्कारों को एक दम त्याग दे । इसलिये उन्होंने धीरे-धीरे बढ़ने का उपदेश देना उचित समझा । सोच विचार के बाद भगवान महावीर ने उस निषाद से कहा-अच्छा भाई ? कौए का मांस खाना तो छोड़ दोगे यह भी बड़ा धर्म है । निषाद इसके लिये तैयार हो गया क्योंकि कौए का मांस खाने का उसे अवसर ही न आता था । जब त्याग का संकल्प कर लिया तो उसके मन में धर्म भावना जाग्रत हुई और धीरे-धीरे अन्य त्यागों को अपनाता हुआ कुछ दिन बाद बड़ा भारी धर्मात्मा, अहिंसा का पुजारी और महावीर का प्रधान शिष्य बन गया । अवतारी महापुरुष जिस जमाने में हुए हैं उन्होंने उस समय की परिस्थितियों का देश, काल, पात्र का बहुत ध्यान रखा है । अरब में जिस समय हजरत मुहम्मद साहब हुए थे उस समय वहाँ के निवासी अनेक स्त्रियाँ रखते थे, उन्हें चाहे जब रखते चाहे जब निकाल देते थे, जब सन्तान बढ़ती और उसका पालन पोषण न कर पाते तो निर्दयता पूर्वक बच्चों को मार-मार कर फेंक देते, उपयोगी और अनुपयोगी पशुओं की अन्धाधुन्द हत्या कर देते थे । उन्हें धीरे-धीरे सुधारने के लिये हजरत ने चार स्त्रियाँ रखने की, बालकों को न मारने की, जीव हत्या एक नियत संख्या में करने की शिक्षा दी । समय बीत जाने पर अब एक व्यक्ति को चार स्त्रियाँ रखने की आवश्यकता नहीं । देखने में वह शिक्षा अनावश्यक होगयी पर उसके मूल में छुपा हुआ सत्य ज्यों का त्यों आवश्यक है । “अपनी आवश्यकताओं को घटाओ, भोगों को कम करो ।” यह सन्देश उस शिक्षा के मूल में था, वह उद्देश्य करोड़ों वर्षों में भी परिवर्तित न होगा ।

आप गंभीरता पूर्वक धर्मतत्व पर दृष्टिपात कीजिए और धर्म की उन नियम व्यवस्थाओं में कौनसी पवित्र और शाश्वत भावना काम कर रही है उसे ढूँढ निकालिए । सत्य शाश्वत है और कायदे, कानून, विचार, व्यवस्था परिवर्तनशील हैं । इस ध्रुव सत्य को हृदयंगम करते ही धर्मों का आपसी विरोध-वैमनस्य दूर हो जाता है और सभी धर्म सत्य हैं एवं एक ही नींव पर रखे हुए हैं, यह दृष्टिगोचर होने लगता है ।

धर्म की सुदृढ़ धारणा )

आप जिस सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रखते हैं, उसका सूक्ष्म दृष्टि से, निष्पक्ष दृष्टि से, निष्पक्ष परीक्षक की भांति, खरे आलोचक की भांति निरीक्षण कीजिये । निस्सन्देह उसमें बहुत-सी बातें बहुत ही उत्तम होंगी क्योंकि हर सम्प्रदाय धर्म का सहारा लेकर खड़ा हुआ है । उसमें कुछ अच्छाई अवश्य ही होनी चाहिए । किन्तु यह भी निश्चय है कि समय की प्रगति के साथ उसमें कुछ न कुछ निरुपयोगिता भी अवश्य आई होगी । यदि उस निरुपयोगिता को मोह वश छाती से लगाये फिरेंग तो आप अपना बहुत बड़ा अहित करेंगे । दो दिन पूर्व जो भोजन तैयार किया था वह बहुत ही पवित्र, उत्तम, स्वास्थ्य कारक था, पर दो दिन पुराना हो जाने के कारण आज तो वह वासी हो गया । उसमें बदबू आने लगी, स्वाद रहित एवं हानि कर हो गया । उस वासी भोजन को मोह वश यदि ग्रहण करेंगे तो अपने को रोगी बना लेंगे । साम्प्रदायिक अनुपयोगी रीति रिवाजों की परीक्षा कीजिये और उनका वैसे ही परित्याग कर दीजिये जैसे मरे हुए कुत्ते की लाश को घर से विदा कर देते हैं । पिछला कल बीत गया । अपनी बहुत सी आवश्यकता, अनावश्यकताओं को वह अपने साथ समेट ले गया । आज तो आज की समस्याओं पर विचार करना है । आज के लिये उपयोगी नयी व्यवस्था का निर्माण करना है । एक समय में एक रिवाज उत्तम थी, केवल इसीलिये वह सदा उत्तम रहेगी, यह कोई तर्क नहीं है । हो सकता है कि एक समय "नरमेघ यज्ञ" होते हों, परन्तु आज उनकी पुनरावृत्ति कौन करेगा ? आदिम युग में मनुष्य के पूर्वज दिगम्बर रहते थे पर आज तो सभी को कपड़ों की आवश्यकता होती है । पहले लोहे और पत्थर से आग पैदा की जाती थी, इसीलिये कोई दिया सलाई का बहिष्कार नहीं कर देता । अमुक नगर से अमुक नगर को पहिले पक्की सड़क न थी, पर आज बन गयी है तो उस पर चलना पाप थोड़े ही कहा जायगा । आप बुद्धि बेच कर पिछले कल की हर बात के अन्ध विश्वासी मत बन जाइए अन्यथा अपने जीवन को दारुण दुःखों में फँसा लेंगे । बन्द गढ़े का पानी सड़ जाता है । कहीं ऐसा न हो कि रुढ़ियों के पोंगा पन्थी के गढ़े में बन्द पड़ी हुई आपकी बुद्धि सड़ जाय और उसकी दुर्गन्ध से पास पड़ोसियों का सिर फटने लगे । सदैव अपनी चेतना को स्वच्छ रखिये । घर के कूड़े को जैसे रोज-रोज साफ किया जाता है वैसे ही धर्म साधना के लिये अनुपयोगी रीति रिवाजों की सदैव सफाई करते रहा कीजिये । उनके स्थान पर वर्तमान समय के लिए

जिन प्रथाओं की आवश्यकता है उनकी आधार शिला आरोपित करने के लिये साहस पूर्वक आगे कदम बढ़ाया कीजिये ।

आपको नाना जंजालों से भरे हुए मत-मतान्तरों की ओर मुड़कर देखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि उनमें से बहुत सी वस्तुएँ समय से पीछे हो जाने के कारण निरुपयोगी हो गई हैं, उनसे चिपके रहने का अर्थ यह होगा कि अपने हाथ-पाँव बाँध कर अपने को अन्धेरी कोठरी में पटक लिया जाय । आप किसी भी धर्म-ग्रंथ, सम्प्रदाय या अवतार का अनादर मत करिए, भले ही आज उनके कई अंश निरुपयोगी हो गये हैं, पर एक समय उन्होंने सामाजिक सन्तुलन ठीक रखने के लिये सराहनीय कार्य किये थे । आप सभी धर्म ग्रंथों, संप्रदायों और अवतारों का आदर करिये और उनमें जो बातें ऐसी प्रतीत हों जिनकी उपयोगिता अब भी बनी हुई है उन्हें ग्रहण करके शेष को अस्वीकार कीजिए । हंस की वृत्ति ग्रहण करके दूध को ले लेना और पानी को छोड़ देना चाहिए ।

सत् धर्म का संदेश है, कि हे ईश्वर के प्राण प्रिय राज कुमारो ! हे सच्चिदानन्द आत्माओ ! हे नवीन युग के निष्कलंक अग्रदूतो ! अपने अन्तःकरण में ज्योति पैदा करो, अपने हृदयों के कषाय-कल्मषों को मथ कर निरन्तर घोते रहो । अपने अन्दर पवित्रता निर्मलता और स्वच्छन्दता को प्रतिष्ठण स्थान देते रहो, इससे तुम्हारे अन्दर ब्रह्मत्व जाग्रत होगा, ऋषित्व उदय होगा, ईश्वर की वाणी तुम्हारी अन्तरात्मा का स्वयं पथ प्रदर्शन करेगी और बतावेगी कि इस युग का क्या धर्म है ? जब आप अनादि सत् धर्म को स्वीकार करते हैं तो इन नाना प्रकार के जंजालों से भरी हुई पुस्तकों की ओर क्यों ताकें ? सृष्टि के आदि में जब सत् धर्म का उदय हुआ था तो जीवों का पथ-प्रदर्शन उनकी अन्तरात्मा में बैठे हुए परमात्मा ने किया था । इसी को 'वेद' या आकाशवाणी कहा जाता है । आप पुस्तकों की गुलामी छोड़िये और आकाशवाणी की ओर दृष्टिपात कीजिये । आपकी अन्तरात्मा स्वतन्त्र है, ज्ञानवान है और प्रकाश स्वरूप है । वह आपको आप की स्थिति के अनुकूल ठीक-ठीक मार्ग बता सकती है । यह मत सोचिये कि आप तुच्छ, अल्प और असहाय प्राणी हैं और आपको अन्धे की तरह किसी की उंगली पकड़ कर ले चलने वाले की जरूरत है । ऐसा विचार करना आत्मा के ईश्वरीय अंश का तिरस्कार करना होगा ।

धर्म अधर्म का निर्णय करने के लिये सद्वृद्धि आपको प्राप्त है ।  
धर्म की सुदृढ़ धारणा )



उस का निष्पक्ष होकर निर्भय उपयोग किया कीजिये । मत कहिये कि हमारी बुद्धि अल्प है, हमारा ज्ञान थोड़ा है । हो सकता है कि अक्षर ज्ञान की दृष्टि से आप पीछे हों, परन्तु सद्बुद्धि तो ईश्वर ने सबको दी है । वह आपके पास भी कम नहीं है । दीनता की भावना को आश्रय देकर आत्मा का तिरस्कार मत कीजिये । अपनी सद्बुद्धि पर विश्वास करिये और उसी की सहायता से आजके लिये उपयोगी रीति रिवाजों को स्वीकार कीजिये, यही सच्चा धर्म है ।

## धर्म और सामूहिकता की भावना

धर्म का एक मुख्य अंग सामूहिकता की भावना है । हमारे देश में अनेक लोगों ने इस भ्रमपूर्ण धारण को अपना रखा है कि धर्म तो एक निजी चीज है । इसके लिये अन्य लोगों से जितना पृथक रहा जाय उतना ही अच्छा है । इस विचार धारा को लोगों ने यहाँ तक आगे बढ़ाया है कि वे उन्हीं लोगों को सबसे बड़े महात्मा और साधु मानते हैं जो जन समूह को त्याग कर किसी पहाड़ की गुफा या अगम्य वन में जा बैठते हैं और संसार का ध्यान छोड़कर मोक्ष साधन के उद्देश्य से तपस्या में लीन हो जाते हैं । यद्यपि हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार एकांत में रहकर तपस्या करने वाले महात्माओं का वास्तविक लक्ष्य क्या होता है, पर कम से कम साधारण लोगों पर तो ऐसी बातों का प्रभाव हानि कारक ही पड़ता है और वे समाज के प्रति अपने कर्तव्य पालन से उदासीन हो जाते हैं ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसने अन्य जीवों की अपेक्षा जो उन्नति की है उसका प्रधान कारण उसकी सामाजिक सामूहिक मनोवृत्ति है । मिल जुल कर काम करने और एक दूसरे की सहायता करने के स्वभाव ने ही शिक्षाएँ, स्वास्थ्य, संस्कृति, विज्ञान, शिल्प, आदि अनेक दिशाओं में मनुष्य को बढ़ाया है । विवाह, कुटुम्ब, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, सभा, सम्मेलन, संगठन आदि इसी मनोवृत्ति के आधार पर बने हैं ।

मनुष्य ने यह भली प्रकार जान लिया है वह एक दूसरे से अलग-अलग होकर नहीं, मिलजुल कर एक दूसरे को सहयोग देकर ही आगे बढ़ सकता है । अपनी कठिनाइयों, कमियों को दूर कर सकता है क्योंकि इस भावना को बढ़ाने में त्याग, संयम, सेवा, प्रेम, उपकार आदि गुणों की आवश्यकता पड़ती है । इसके विपरीत एक और मनोवृत्ति मनुष्य में काम करती है जिसे 'स्वार्थपरता' कहना चाहिए । इसकी प्रेरणा से

दूसरों से अपने लिये अधिकाधिक लाभ लेना, और बदले में कम से कम देने की इच्छा प्रबल होती है । फलस्वरूप बेईमानी, छल, शोषण, अन्याय, संग्रह, विलासिता आदि की वृद्धि होती है । इस मनोवृत्ति को 'असुर' तत्त्व कहते हैं । यह दोनों ही देव, असुर मनोवृत्तियों परस्पर निरन्तर संघर्ष करती रहती हैं । गीताकार ने तत्त्वतः इसी देवासुर संग्राम का वर्णन किया है और अर्जुन को निमित्त बनाकर जन साधारण को, असुरता, स्वार्थपरता को पराजित करने और केवल लोक हित को विजयी बनाने के लिये आन्तरिक संघर्ष करते रहने का निर्देश किया है ।

इन दोनों प्रकार की भावनाओं में संघर्ष चलता रहता है । परिस्थितियों के कारण कभी देवत्व प्रबल हो जाता है तो कभी असुरता की घड़ बनती है । व्यक्तिगत जीवन की भीति सामूहिक जीवन में भी यह उतार चढ़ाव आते रहते हैं । कोई काल सज्जनों की अधिकता का होता है तो किसी में दुर्जनों की भरमार रहती है । सतयुग, कलियुग आदि का यही आधार है । बात यह है कि मनुष्य के अन्दर असुरता, पाशविकता, स्वार्थपरता की मात्रा अधिक रहती है । निम्नगामी मनोवृत्तियों सरल और प्रबल होती हैं, उन्हें बढ़ते देर नहीं लगती । ऊर्ध्वगामी, देवत्व प्रधान प्रवृत्तियाँ कठिन और परिणाम में मन्द सौम्य एवं साधारण होती हैं जिनके कारण भौतिक दृष्टि से अधिक लाभ मिलते नहीं दीखते, इसलिये उनमें उतना आकर्षण नहीं होता जितना असुरता के सिद्धांतों में । इसलिये बहुधा मन की प्रवृत्ति व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की ओर ही अधिक रहती है । पानी को फँलाया जाय तो वह नीचे की ओर बिना किसी प्रयत्न के बह निकलेगा, किन्तु यदि पानी को ऊपर चढ़ाना हो तो उसके लिये अनेक प्रकार के साधन जुटाने पड़ते हैं तब कहीं धीरे-धीरे थोड़ी सफलता मिलती है ।

आसुरी तत्त्वों की प्रबलता और देवत्व में सौम्यता के कारण बार-बार ऐसे अवसर आजाते हैं कि व्यक्तियों में तथा समाज में सामूहिकता की प्रवृत्ति घट जाती है और स्वार्थपरता बढ़ जाती है । उस असंतुलन की स्थिति को सँभाल कर संतुलन कायम करने के लिये कोई महापुरुष, देवदूत, अवतार आते हैं और बुराइयों को घटाने, अच्छाइयों को बढ़ाने के अपने उद्देश्य को पूरा करके चले जाते हैं । यह तो हुई विशेष परिस्थितियों को, विशेष रूप से समाधान करने वाले विशेष महापुरुषों की बात । पर साधारण समय में भी असुरता को, असामाजिकता को नियन्त्रित करने और देवत्व धर्म की सुदृढ़ धारणा )

को प्रोत्साहन देने के लिये कुछ आत्माओं को प्रयत्न करते रहना होता है । यदि प्रयत्न न हो तो श्रष्टाचार अत्यन्त तीव्र गति से फैलता है और जन मन की स्थिति असुरता से आछन्न हो जाती है ।

हर वस्तु से मैल निकलता है । समय-समय पर उसकी सफाई करते रहना पड़ता है । यदि वह सफाई न की जावे तो गन्दगी और बीमारी फैलती है । बर्तन, कपड़ा, मकान शरीर आदि किसी भी वस्तु को ले लें-उन पर मैल जमने की प्रक्रिया होती रहती है । मिट्टी, साबुन, बूहारी, जल आदि वस्तुओं से उनकी जल्दी-जल्दी सफाई करनी पड़ती है । यदि सफाई की यह क्रिया बन्द कर दी जावे तो ये वस्तुएँ मलीनता से भर जाती हैं । मानवीय मन तथा समाज की भी यही स्थिति है । मन में भी एक प्रकार की गंदगी और मलीनता उत्पन्न होती रहती है जिसे स्वर्धपरता, वासना, तृष्णा आदि नाम दिये जाते हैं । इसकी सफाई जल्दी-जल्दी न की जाती रहे तो मन की यह गंदगी बहुत बढ़ जाती है और कुछ ही दिनों में वह बड़ी हुई मानसिक मलीनता वाला व्यक्ति एक प्रकार से विषाक्त रक्त वाले छूत के रोगी की तरह-अपने लिये ही नहीं, निकटवर्ती अन्य लोगों के लिये भी हानि-कारक बन जाता है । उसकी बुरी नीयत, बुरी आदत, बुरी भावना, बुरी बिचार धारा-उससे इस प्रकार के कार्य बलात् कराती रहती है जो दूसरों के लिये, समस्त समाज के लिये कष्टकारक होते हैं । अपने भौतिक लाभ की बात सोचते रहने से मनुष्य के स्वभाव में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, असत्य, दंभ, आलस्य, चोरी, अनीति, निष्ठुरता आदि अनेकों बुराइयों पैदा हो जाती हैं और वे बुराइयों जब मनः क्षेत्र से बाहर निकल कर वाणी तथा क्रिया में प्रकट होती हैं तो वे कलह एवं कुकर्म के रूप में ही सामने आती हैं ।

यह प्रवृत्ति एवं प्रक्रिया जब अधिक लोगों में, अधिक मात्रा में बढ़ जाती है तब प्लेग, हैजा, चेचक आदि महामारियों की तरह "सामाजिक अनाचार" का रोग फैल जाता है और उसकी कष्ट कारक परिणति से सभी लोग नाना प्रकार के दुःख पाते हैं । चोरी, बेईमानी, अनीति, हत्या, लूट, व्यभिचार, उद्वेगता, आलस्य, शोषण, विलासिता, संघर्ष, द्वेष आदि की अनेकों दुष्प्रवृत्तियों अनेक रूपों में फूट पड़ती हैं । जिससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सर्वत्र अशान्ति दीख पड़ती है । घर, परिवार, मुहल्ले, ग्राम, देश, राष्ट्र, समाज अनेक छोटी-मोटी घटनाओं एवं परिस्थितियों को लेकर आपस में

टकराते, घायल होते, दुःख पाते और बर्बाद होते हैं ।

यों नदी नालों में होकर असीम मात्रा में पानी बहकर व्यर्थ जाता रहता है । पर यदि उसका सदुपयोग करना होता है तो उस जल को काम में लाने के लिए अनेक व्यवस्थायें बनानी पड़ती हैं । घाट, बाँध, नहर, पम्प, नीव, जहाज आदि साधनों की सहायता से वह भयंकर जल धारा जिससे हानि की ही आशा की जाती थी, बदल कर बड़ी उपयोगी एवं लाभदायक बन जाती है । यदि यह उपाय न किये जायें तो नदी, नालों से लाभ मिलना तो दूर उलटे वे अनेक प्रकार से बाधक बनेंगे । यही बात मनुष्य की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी है । उसके भीतर से जो असुरता स्वार्थ परता हर घड़ी फूटती रहती है उसे नियन्त्रित करने के लिए घाट, बाँध, नहर आदि की तरह नैतिक दैवी भावनाओं के नियंत्रण स्थापित करने पड़ते हैं । यह तंत्र जबतक मजबूत रहता है—लोग दूसरे के प्रति अधिक उत्तम व्यवहार करते हैं, एक दूसरे के लिये त्याग और प्रेम का परिचय देते हैं । फलस्वरूप सबके मन प्रसन्न रहते हैं, सामाजिक सुव्यवस्था कायम रहती है और साथ ही भौतिक उन्नति के साधन भी बनते हैं । पर जब यह धर्मतंत्र शिथिल होने लगता है तब असुरता की प्रवृत्ति अन्तरात्मा के भीतर सौम्य गति से काम करने वाली दैवी वृत्ति को परास्त करके अपनी प्रभुता स्थापित कर लेती है और इस पृथ्वी पर नरक के दृश्य उपस्थित हो जाते हैं । नर तन धारी ब्याघ्र हाट बजारों में, घर द्वारों में, खेत खलिहानों में, सभा संस्थाओं, मन्दिर, मस्जिदों में, दफ्तर, राजद्वारों में घुमते दिखाई पड़ते हैं । अपनी कुटिलता को छुपाने के लिये बातें बढ़-चढ़ कर बनाते हैं, पर उनके कार्यों पर बारीक निगाह डालते ही नाक को सड़ा देने वाली गन्दगी उड़ती दिखाई पड़ती है ।

जब धर्म तंत्र अधिक अस्त-व्यस्त हो जाता है तब उसकी मरम्मत करने के लिये बड़े देवदूतों, अवतारों, पैगम्बरों, महापुरुषों के रूप में अत्यन्त प्रभावशाली आत्माएँ आती हैं और अपने महान व्यक्तित्व, प्रबल पुषार्थ एवं सत्पुरुषों के सहयोग से उस अव्यवस्था को रोक कर पुनः उस देवत्व की, सामूहिकता की भावना को जन मन में प्रवाहित कर देने में सफलता प्राप्त करती हैं । पर यह तो उस समय की बात है जब दुर्घटना की घोर विपन्न स्थिति आ जाय । साधारण समय में अवतारों की नहीं, ऋषियों की आवश्यकता रहती है । उन्हें ही ब्राह्मण भी कहते हैं । इस श्रेणी के व्यक्ति तप, त्याग, संयम, ज्ञान, उदारता एवं लोक हित जैसी धर्म की सुदृढ़ धारणा )

प्रवृत्तियों को कूट-कूटकर अपने अन्दर भरते हैं और एक मजबूत बाँध की तरह सुदृढ़ आधार पर खड़े होते हैं । फिर वे एक बड़ा शिला की भाँति जन मानस की धारा को उचित दिशा में मोड़ने के लिये दृढ़ता पूर्वक अड़ जाते हैं । अपनी सीमित सामर्थ्य के अनुसार वे सीमित क्षेत्र चुनते हैं पर उसी क्षेत्र में अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व, उच्च आदर्श एवं प्रघण्ड पुरुषार्थ द्वारा सहस्रों मनुष्यों के भीतर असुरता, स्वार्थपरता को घटाने एवं देवतत्व, सामूहिकता को बढ़ाने में सफलता प्राप्त करते हैं । यह ब्राह्मण एवं ऋषि ही किसी जाति की सच्ची सम्पत्ति होते हैं । इनका मूल्य सोने की खानों और रत्न राशियों से असंख्य गुना अधिक होता है, जिस देश में, जिस समाज में, सच्चे ब्राह्मण पैदा करते रहने की प्रसव शक्ति होती है उसकी विजय वैजयन्ती सदा दशों दिशाओं में फहराती रहती है ।

धर्म तन्त्र का कलेवर अत्यन्त विस्तृत है । वेद, शास्त्र, दर्शन, स्मृति, पुराण आदि के सहस्रों ग्रन्थ मीजुद हैं । जप, तप, संयम, ध्यान, साधन आदि के अनेक विधान हैं । तीर्थ यात्रा, ब्रह्मभोज, दान-पुण्य, कथा, कीर्तन, व्रत, उपवास, त्यौहार, संस्कार आदि अनेक कर्मकाण्ड हैं । इन सब का एक मात्र उद्देश्य यह है कि व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा में ऐसे विचार, विश्वास, भाव एवं संस्कार धारण करे जिनके द्वारा उसकी व्यक्तिगत स्वार्थपरता घटे और लघुता को महत्ता में-आत्मा को महान आत्मा-परमात्मा में विकसित करने की प्रेरणा मिले । सबके अन्तःकरण में निवास करने वाली-प्राणिमात्र की एकता की, सब के साथ आत्म भाव स्थापित करने की-विश्व मानव की उपासना ही ईश्वराराधन का तत्त्व ज्ञान है । इस दार्शनिक तथ्य को स्वाध्याय, सत्संग, साधन, कर्मकाण्ड, दान-पुण्य आदि अनेक प्रकारों के माध्यम से हृदयंगम करने का प्रयत्न किया जाता है । परम्पराओं के अनुसार धर्म-तन्त्र के यह विधि-विधान तो चलते रहते हैं, पर कालान्तर में उनके भीतर छिपे हुए सिद्धांतों, आदर्शों और तथ्यों को लोग धूलने लगते हैं । ब्राह्मणों-ऋषियों का प्रधान कार्य इन उपचारों की सहायता से जन साधारण की अन्तरात्मा में देवत्व की मनोवृत्ति को प्रदीप्त करना होता है । साधारण जनता के उथले मानसिक स्तर को देखते हुए वे अनेक आयोजनों की व्यवस्था करते हैं, पर मूल लक्ष्य एक ही रहता है कि मनुष्य अपनी शक्तियों से केवल अपना ही लाभ न सोचे, उसे अपनी क्षमता द्वारा दूसरों का हित करते रहने के महान तथ्य का भी ध्यान रहे-कम से कम दूसरों के अधिकारों

का अनीति पूर्वक हनन तो न करे । मनुष्यों की यह मनोवृत्ति जितनी ही प्रबल होती जाती है उतनी ही सुख शान्ति की संभावना संसार में बढ़ती जाती है ।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य की व्यक्तिगत और संसार की सामूहिक सुख शान्ति उनकी अन्तरात्मा में निवास करने वाली-सामूहिकता पर, एक दूसरे के लिये त्याग और सहयोग करने की भावना पर ही निर्भर है । पाशविक वृत्ति-स्वार्थपरता पर नियंत्रण स्थापित करना ही असंख्य प्रकार के कष्टों पर विजय प्राप्त करना है । चूँकि यह कार्य भौतिक नहीं आन्तरिक है इसलिये इसे राजदण्ड आदि किसी बाह्य उपाय से पूरा नहीं किया जा सकता । इसके लिये तो धर्म तन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है। इसकी रक्षा के लिए सत्पुरुष अपना जीवन बलिदान करते हैं और इसी के लिये भगवान तक दौड़े आते हैं । हमें इस धर्म तन्त्र पर विचार करना होगा और उसे सुव्यवस्थित करने के लिये मजबूत कदम उठाना होगा । तभी संसार की सुख शान्ति को स्थिर रखने वाली मनुष्य की एक मात्र देवी प्रवृत्ति-सामाजिकता एवं सामूहिकता को सुव्यवस्थित रखा जा सकेगा ।

## धर्मात्मा के लक्षण

जिस प्रकार सूर्य उदय हुआ है या नहीं-यह बात किसी को बतानी नहीं पड़ती, उससे उत्पन्न होने वाली गर्मी और प्रकाश स्वयं इस बात का परिचय दे देते हैं कि सूर्योदय हो गया है । इसी तरह किसी धर्मात्मा मनुष्य का परिचय यह कहकर नहीं दिया जाता कि वह मनुष्य धर्मात्मा है-क्योंकि उसने सौ मालायें राम नाम की जपी हैं, या वह नित्य वेद, पुराण का पाठ करता है । कोई मनुष्य धर्मात्मा है या नहीं इसका पता उसके आस पास रहने वालों के प्रति उसके व्यवहार से अपने आप लग जाता है । अगर उसका प्रभाव अपने चारों ओर रहने वाले व्यक्तियों पर सुखदायक पड़ता है और उसके कारण उनके दुःखों का मोचन होता है तो उसका धर्मात्मा होना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है । किसी भी व्यक्ति का धर्मात्मा होना जप-तप और पूजा-पाठ से नहीं नापा जा सकता । लैम्प में प्रकाश है या नहीं इसकी परीक्षा हम इस बात से नहीं कर सकते कि उसमें तेल है या नहीं । लैम्प के प्रकाश का माप केवल इस बात से हो सकता है कि उसके चारों ओर का अन्धकार दूर हुआ या नहीं ।

धर्म की सुदृढ़ धारणा )

सूर्य बिना तेल बत्ती के भी प्रकाशमान है, और बुझा हुआ दीपक तेल बत्ती के होते हुए भी प्रकाश हीन है । इसी तरह कुछ मनुष्य पूजा पाठ के बिना भी धर्मात्मा हैं, वे सूर्यवत् हैं और अन्य कितने ही मनुष्य पूजा पाठ करते रहने पर भी धर्महीन हैं, वे पाखण्डी हैं ।

परन्तु साधारण मनुष्यों को लैम्प के समान प्रकाश उत्पन्न करने के लिये पूजा पाठ रूपी तेल बत्ती की आवश्यकता रहती है । जो मनुष्य साधारण होते हुए भी पूजा पाठ तथा सत्संग से हीन हैं उनका दिया भी बुझा रहता है । जिस मुहल्ले में तुम रहते हो यदि उसकी नालियाँ दुर्गन्ध युक्त हैं और चारों ओर कीचड़ सड़ रहा है, मच्छरों के झुण्ड उड़ते रहते हैं, लोग मीले-कुचैले, अनपढ़ रोगों के मारे और निर्धनता के सताये हुए हैं, और तुम इन अवस्थाओं के सुधार के लिये कुछ नहीं कर रहे हो, तो तुमको धर्मात्मा कहलाने का कोई अधिकार नहीं है । फिर चाहे तुम कितनी ही लम्बी समाधि लगाते हो, कितना भी भजन कीर्तन करते हो, कितने भी घण्टे घड़ियाल बजाते हो और कितनी भी सामग्री हवन में फूँक देते हो, तो भी तुम धर्मात्मा नहीं हो । संसार में आज तक जितने भी महात्मा प्रचार करने आये वह इसी संवेदना-भाई चारे की भावना का प्रकाश तुम्हारे दिये बत्ती में जलाने आये थे ।

पादरी लोग जब ईसामसीह के सम्बन्ध में कहते हैं कि उसने अन्धों को आँखें दी, बहरों को कान दिये, लूले लँगड़ों को हाथ-पैर दिये तो वह उस महात्मा के कारनामों का ठीक रूप में वर्णन नहीं करते । हम कहते हैं कि संसार के सभी महात्माओं ने अन्धों को आँखें दी, बहरों को कान दिये, लूले लँगड़ों को हाथ-पैर दिये । पर इस अभाग्य संसार ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, प्रमाद आदि के घोर विष से अपने आपको अन्धा, बहरा, लूला, लँगड़ा बना डाला । जिस समय हम इन महात्मा लोगों की प्रेरणा से अपने चारों ओर बसे मनुष्यों के प्रति संवेदना अनुभव करते हैं, और उनकी बिगड़ी हुई हालत को सुधारने के लिये भरसक चेष्टा करते हैं, उस समय हमारी खोई हुई आँखें वापिस मिल जाती हैं, हमारे बहरे कान सुनने लग जाते हैं और हमारे कटे हुए हाथ पैर फिर से हरे हो जाते हैं । बस जहाँ अपने चारों ओर की शोचनीय अवस्था को सुखमय दशा में परिवर्तन करने की भावना मौजूद है, वहीं धर्म का सच्चा स्वरूप है ।

## धर्म के दो स्वरूप

धर्म की आवश्यकता तो सभी समझदार लोग स्वीकार करते हैं, पर धार्मिक सिद्धांतों के विषय में प्रायः मनुष्यों में मतभेद पाया जाता है। विभिन्न मजहबों में पाये जाने वाले अन्तर को तो छोड़ दीजिये, एक ही मजहब के पृथक-पृथक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में घोर वैषम्य दिखाई देता है। हिन्दू धर्म इस दृष्टि से सबसे अधिक मतभेद रखने वाला है और उसमें अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता रखने वाले सम्प्रदायों की संख्या सैकड़ों से भी अधिक है। इनमें कितने ही सिद्धान्त तो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत मिलते हैं। पर इस प्रकार के मत भेदों में धर्म का ठोस अंश बहुत कम होता है। अधिकांश अवस्थाओं में तो मतभेदों का कारण ऊपरी रस्म रिवाज या स्थानीय विशेषतायें ही होती हैं।

यथार्थ में धर्म के दो अंग होते हैं। एक तो नित्य अथवा अपरिवर्तनशील और दूसरा अनित्य अथवा परिवर्तनशील। सदाचार या सद्गुण तो नित्य या अपरिवर्तनशील धर्म हैं। उन सद्गुणों के अनुसार वर्ताव करने, इन गुणों को बढ़ाने का प्रयत्न करने, और आपस में व्यवहार करने की विधियाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य का मानसिक विकास होता है ये विधियाँ पहले से अच्छी निकल आती हैं। नये-नये धर्म प्रवर्तकों का कार्य पहले से अधिक श्रेयस्कर अथवा बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल विधियाँ बनाने का होता है।

उदाहरण के लिये देखिये कि सत्य, दया, न्यायप्रियता, उदारता आदि सद्गुण अपरिवर्तनशील हैं। कोई धर्म इनको कभी बुरा न कहेगा। ये प्रायः सभी धर्मों में पाये जायेंगे। कोई धर्म-प्रवर्तक इनका निषेध न करेगा। इसलिये ये नित्यधर्म हैं। लेकिन सत्य, दया, उदारता आदि के सूक्ष्म रूप, जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती जायेगी वैसे-वैसे प्रकट होंगे। जैसे कोई तो झूठ बोलने को ही सत्य का उल्लंघन समझे। दूसरा ऐसे सभी कार्यों को झूठ समझे जिनको उसे छिपाना पड़े, या मन में किसी अनुचित इच्छा को लाना भी सत्य का उल्लंघन समझे। यह उस मनुष्य के विचारों की सूक्ष्मता पर निर्भर है। इस प्रकार सत्य-धर्म में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ, पर उसके प्रयोग में विकास अथवा उन्नति अवश्य हुई।

सद्गुणों की वृद्धि करने वाली क्रियाएँ जैसे-उपासना, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, दान, तीर्थाटन आदि भिन्न-भिन्न जातियों, देशों व समयों में भिन्न-

धर्म की सुदृढ़ धारणा )



भिन्न होती है। यह सब धर्म का अंग होते हुए भी परिवर्तनशील है। उनका उद्देश्य सदैव एक ही होता है, परंतु एक ही उद्देश्य से कार्य करने वाले मनुष्यों की कार्य प्रणाली पृथक्-पृथक् होती है। इसी प्रकार जन समुदायों, अथवा सम्प्रदायों की धार्मिक शैलियाँ भिन्न हो सकती हैं और एक ही जाति के महापुरुष नई-नई शैलियों का आविष्कार कर सकते हैं। इसी प्रकार धार्मिक संस्कार पृथक्-पृथक् और परिवर्तनशील होते हैं तो सभी जातियों, सभी देशों, सभी समयों में। मनुष्य जब प्राकृतिक शक्तियों को अपने से बहुत अधिक प्रबल देख कर उनमें देवताओं की कल्पना करता है, तो उन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए पूजा करना, उनको भेंट चढ़ाना, बलिदान करना, आवाहन करना स्वाभाविक ही है, जिससे वे प्रसन्न होकर मनुष्यों का अनहित न करें, और उसके लिये सुखकारी सिद्ध हों। यही धार्मिक संस्कारों का मूल है। पर देश काल के अनुसार हमारी प्रणाली बदल रही है और आगे भी बदलती रहेगी। उदाहरणार्थ किसी विधि में किसी ठण्डे देश में ऊनी वस्त्र पहिने जाते हैं और फिर यदि वे ही लोग किसी गर्म देश में आ बसें तो ऊनी वस्त्रों के स्थान में सूती वस्त्र पहिने लगे। अथवा यदि किसी समय किसी पूजा में मिट्टी की साधारण सी मूर्ति बना कर रखने की प्रथा हो और फिर वे मूर्तियाँ सुन्दर पत्थर की बनने लगे तो मिट्टी की मूर्ति की जगह पत्थर की मूर्तियों का प्रचलन हो जायगा। लगभग पचास साठ वर्ष पहले ही महाराष्ट्र में गणपति पूजन के अवसर पर शास्त्रानुकूल वेषभूसा की मूर्तियाँ बनती थीं, पर अब दिन पर दिन वे मूर्तियाँ सरकारी फौजी अफसरों के भेष में, राष्ट्रीय नेता के भेष में, फ़ैशनविल जैटिलमनों के भेष में बनाई जाने लगी हैं।

धार्मिक संस्कारों का मूल चाहे कुछ हो परंतु उनका प्रभाव विशेष रूप से पड़ता ही है। उस अवसर का महत्व संस्कार करने वाले के मन पर अंकित हो जाता है। संस्कार के साथ जिस क्रिया को मनुष्य करता है उसे बिना सोचे समझे, हँसी खेल के समान नहीं करता वरन् उसकी महानता उसके हृदय पर जम जाती है। इस प्रकार अनेक धार्मिक संस्कार, धार्मिक भावों अथवा सद्गुणों की बढ़ती करने वाले होते हैं।

पर जैसे-जैसे समय बीतता जाता है परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से धार्मिक संस्कारों तथा अन्य धार्मिक क्रिया काण्डों की विधि कोरा दिखावा

या आडम्बर मात्र रह जाती है । जिन सद्गुणों को उनके द्वारा बढ़ाना अभीष्ट होता है उसके विपरीत उसके कारण दुर्गुण की वृद्धि होने लगती है । लोग उसके सार को भूल कर बाहरी स्वरूप पर ही जोर देने लगते हैं । कभी-कभी वह विधि इतनी पेचीदा और लम्बी चौड़ी होती है कि साधारण मनुष्य न तो उसे समझ सकता है, न याद रख सकता है । ऐसी अवस्था में पंडितों या पुजारियों की एक श्रेणी बन जाती है जो उसे कराने के अधिकारी समझे जाते हैं । ये पुजारी जब अपने अपने अधिकार को दृढ़ता के साथ स्थापित देखते हैं तो वे भी उस विधि के पूर्ण अध्ययन की चिन्ता नहीं करते, वरन् उसके द्वारा अधिक से अधिक धन प्राप्त करने को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं । परिणाम यह होता है कि जो धार्मिक कृत्य मानव कल्याण के लिये प्रचलित किये गये थे वे ही फिर स्वार्थसाधन, अभिमान, द्वेष आदि की उत्पत्ति करने वाले बन जाते हैं । संसार में धर्म के नाम पर जो अनर्थ हुये हैं, उनका मूल कारण यही है ।

ऐसी अवस्था देख कर किसी महापुरुष का हृदय सहानुभूति और करुणा से द्रवित हो जाता है । वह ऐसे पुजारियों और ऐसे आडम्बर का विरोध करने लगता है । जब किसी धार्मिक कृत्य से सद्गुणों के बदले दुर्गुण बढ़ने लगे तो वह त्याज्य हो जाता है । इसलिये फिर से सार धर्म के उपदेश और नवीन धार्मिक विधियों के प्रचार की आवश्यकता होती है । कभी-कभी पुजारियों का गुरुद्वेष मिटाने को धार्मिक कृत्यों की पेचीदा विधियों को दूर करके साधारण व्यक्तियों के समझने और आचरण कर सकने योग्य रास्ता बताना आवश्यक होता है । इस प्रकार धार्मिक व्यवस्था में महान परिवर्तन हो जाता है । परंतु धर्म का सार रूप, सद्गुणों का आचरण अब भी वैसा ही महत्वपूर्ण रहता है जैसा कि पहले था । अथवा यह कहना चाहिए कि वह पहले से भी अधिक आवश्यक हो जाता है, क्यों कि उस की रक्षा के लिए बाहरी विधियों और क्रियाओं में परिवर्तन किया जाता है । इस प्रकार नित्य धर्म की रक्षा के लिये ही महापुरुषों द्वारा धर्म के ऊपरी रूप में परिवर्तन किया जाता है जिसे सामान्य व्यक्ति नवीन धर्म अथवा साम्प्रदाय की स्थापना का रूप दे देते हैं ।

धर्म की सुदृढ़ धारणा )

99

## धर्म का व्यापक स्वरूप

नित्य व्यवहार में धर्म शब्द का उपयोग केवल “पारलौकिक सुख का मार्ग” इसी में अर्थ किया जाता है । जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि ‘तेरा कौनसा धर्म है ?’ तब उससे हमारे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिये किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी—से चलता है और हमारे प्रश्न के अनुसार ही वह उत्तर देता है । उसी तरह स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधनभूत यज्ञ, योग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय ‘अथातो धर्म जिज्ञासा’ आदि धर्म सूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है, परंतु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है । इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति बोधकों को भी धर्म कहते हैं । धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को ‘मोक्षधर्म’ अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं । उदाहरणार्थ चतुर्विधि पुरुषार्थों की गणना करते समय हम लोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कहा करते हैं ।

महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि ‘किसी का कोई काम करना धर्म—संगत है’ उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्य शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज व्यवस्था शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है, तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थान पर मोक्ष धर्म के आशय से इसका प्रयोग किया गया है, इसी प्रकार मनु आदि स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म अर्थ का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है । गीता में भी ‘स्वधर्म मपि चावेक्ष्य ( गीता २-३१ ) स्वधर्मं निघ्नं श्रेयः परधर्मो भयावहः’ ( ३-३५ ) आदि कई स्थानों पर धर्म शब्द इस लोक के चातुर्वर्ण्य के धर्म के अर्थ में ही प्रयोग किया गया है ।

पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम विभाग रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिये चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें । किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दशाओं से संरक्षण और पोषण भली भांति होता रहे । यह बात

भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये, अर्थात् सच्चे स्वधर्म को भूल कर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये ।

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येषः न च कश्चिच्छू णोति माम् ।

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते ॥

“अरे भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हूँ, परन्तु कोई भी नहीं सुनता, धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिये इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो ।”

क्या संस्कृत क्या अन्य कोई भाषा सभी में धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति नियमों के बारे में किया गया है जो समाज धारा के लिये शिष्ट जनों के द्वारा अध्यात्म दृष्टि से बनाये गये हैं । इस दृष्टि से विचार करने पर नीति के उन नियमों अथवा शिष्टाचार को धर्म की बुनियाद कह सकते हैं जो समाज धारा के लिये शिष्ट जनों के द्वारा प्रचलित किये गये हों । और इसलिये महाभारत ( अनु. १४०-१५७ ) में एवं स्मृति ग्रंथों में “आचार प्रभवो धर्मः” अथवा आचारः परमोधर्मः ( मनु. १-१०८ ) अथवा धर्म को मूल बतलाते समय “वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य प्रियमात्मनः” ( मनु. १२-२ ) इत्यादि बचन कहे हैं ।

धर्म शब्द की दूसरी एक और व्याख्या प्राचीन ग्रंथों में दी गयी है, यह व्याख्या मीमांसकों की है । “चोदना लक्षणाऽर्थो धर्मः” ( जै. सू. १-१-२ ) किसी अधिकारी पुरुष का यह कहना अथवा आज्ञा करना कि ‘तू अमुक कर’ अथवा ‘मत कर’ ‘चोदना’ यानि प्रेरणा है । जब तक इस प्रकार का कोई प्रबंध नहीं कर दिया जाता तब तक कोई भी काम किसी को भी करने की स्वतंत्रता होती है । इसका आशय यही है कि पहले-पहल निर्बन्ध या प्रबंध के कारण धर्म निर्माण हुआ । धर्म की यह व्याख्या कुछ अंश में प्रसिद्ध अग्नेज ग्रन्थकार हाब्स के मत से मिलती है । असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण समय समय पर उत्पन्न होने वाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के कारण हुआ करता है । परन्तु धीरे-धीरे उस समय के बाद यह मालूम होने लगता है कि इस प्रकार का मनमाना वर्ताव श्रेयस्कर नहीं है और यह विश्वास होने लगता है कि इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार कार्य करने में ही सब लोगों का कल्याण है, तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओं का पालन कायदे के तौर पर करने धर्म की सुदृढ़ धारणा )

लगता है, जो शिष्टाचार या अन्य रीति से सुदृढ़ हो जाया करती हैं । जब इस प्रकार की मर्यादाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब उन्हीं का एक शास्त्र बन जाता है । पूर्व समय में विवाह व्यवस्था का प्रचार नहीं था, पहले-पहल उसे श्वेतकेतु ने चलाया । इसी प्रकार शुक्राचार्य ने मदिरा पान को निषिद्ध ठहराया । यह न देख कर कि इन मर्यादाओं को बनाने में श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्य का क्या हेतु था, केवल किसी एक बात पर ध्यान देकर कि इन मर्यादाओं के निश्चित करने का काम या कर्तव्य इन लोगों को करना पड़ा, धर्म शब्द की 'चोदना लक्षणोऽर्थोः धर्मः' व्याख्या बनाई गई है ।

**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग द्वेषौ व्यवस्थितौ ।**

**तयोर्न वश मागच्छेत् नौ ह्यस्य परि पथिनौ ॥**

प्रत्येक इन्द्रिय में अपने-अपने उपयोग अथवा त्याज्य पदार्थ के विषय में जो प्रीति अथवा द्वेष होता है वह स्वभाव सिद्ध है । इनके वश में हमें नहीं पड़ना चाहिए । क्योंकि राग और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं । तब भगवान भी धर्म का वही लक्षण स्वीकार करते हैं जो स्वाभाविक मनोवृत्तियों को मर्यादित करने के विषय में ऊपर कहा गया है । मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे पशु के समान आचरण करने के लिये कहा करती हैं और उसकी बुद्धि उसके विरुद्ध दिशा में खींचा करती है । इस कलहाग्नि में जो लोग अपने शरीर में संचार करने वाले पशुत्व का यज्ञ करके कृत-कृत्य-सफल होते हैं, उन्हें ही सच्चा याज्ञिक कहना चाहिए ।

**‘धर्म रक्षति रक्षतः’**

धर्म वह वस्तु है जिसकी रक्षा करने से हमारी रक्षा होती है । मनुष्य बड़ा स्वार्थी जीव है, उसने हर दिशा में पहले यह देखा है कि इस कार्य को करने में मेरा कितना हित होगा, तत्पश्चात् उस कार्य को आरम्भ किया है । गाय, भैंस, घोड़े, बकरी आदि की वह रक्षा करता है क्यों कि बदले में वह भी मनुष्य की सम्पत्ति तथा तन्दुरुस्ती की रक्षा करते हैं, बढ़ाते हैं । सियार, भेड़िया हिरन, लोमड़ी, चीता, कछुआ आदि को आमतौर से नहीं पाला जाता क्यों कि इनसे लाभ नहीं होता । यही बात हर दिशा में है-व्यापार, विवाह, मित्रता, कुटुम्ब पालन, विद्या, व्यायाम आदि को इसलिये उचित ठहराया गया है कि इनके द्वारा मनुष्य का हित साधन होता है, रक्षा होती है सुख मिलता है । जिस कार्य से किसी अच्छे

प्रतिफल की आशा नहीं होती उसमें मनुष्य दिलचस्पी नहीं लेता ।

धर्म को मनुष्य ने बहुत ही बड़ी वस्तु माना है । छोटे-मोटे सुखों को त्याग कर और कष्टों को अपना कर भी वह धर्म के लिये प्रयत्नशील रहता है क्योंकि लाखों वर्षों का अनुभव यह सिखाता है कि धर्म की रक्षा करने से अपनी रक्षा होती है । रक्षक, पहरेदार, चौकीदार, सैनिक आदि रक्षा करने वाले व्यक्तियों को पैसा खर्च करके भी अपने पास रखा करते हैं क्योंकि यह बात अनुभव में आ चुकी है कि इनके द्वारा आने वाली अपत्तियों और हानियों से बचाव होता है । यदि यह बात न होती तो कोई भी पहरेदारों को न रखता । इसी प्रकार धर्म को भली-भाँति परख लिया है कि वह हमारी रक्षा करता है, इसलिये लोग धर्म की रक्षा करना उचित समझते हैं । यदि उसमें यह गुण न होता तो कोई उसे स्वीकार नहीं करता ।

गौ पालन, तुलसी स्थापना, गंगा स्नान, तीर्थ यात्रा, एकादशी व्रत, ब्रह्मचर्य आदि कार्यों को धर्म माना गया है । इस मान्यता से पहिले परीक्षा कर ली गयी है कि यह कार्य लाभदायक हैं । गाय पालने से दूध, गोबर और बछड़े मिलते हैं, तुलसी अनेक रोगों को दूर करने वाली एक अमोघ औषधि है, गंगा के जल में ऐसे रासायनिक तत्व पाये जाते हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिये उपयोगी हैं । तीर्थ यात्रा में देशाटन के अनुभव, सत्पुरुषों का सत्संग और वायु परिवर्तन होता है । एकादशी व्रत रखने से पन्द्रह दिन का कब्ज पच जाता है । ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान रहता है । इन प्रत्यक्ष लाभों की आकर्षण शक्ति ने ही मनुष्य को धर्म के साथ बाँध रखा है, अन्यथा यह स्वार्थी जीव कब का धर्म को धता बता चुका होता ।

जहाँ श्रेष्ठता होती है वहाँ कुछ बुराई भी घुस जाती है धर्म पालन को लोग बहुत ही महत्वपूर्ण समझते हैं और उसके लिये त्याग भी करते हैं । यह देख कर स्वार्थपरता—जो कि हर एक क्षेत्र में पाई जाती है—जागृति हुई और अनुचित रूप से व्यक्तिगत लाभ उठाने के आडम्बर रचे गये । धर्म गुरुओं में जहाँ अधिकांश श्रेष्ठ पुरुष थे और रक्षा करने वाले धर्म का उपदेश दिया करते थे, वहाँ कुछ ऐसी ओछी मनोवृत्ति के लोग भी गुरुओं में मिल गये जिन्होंने व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से नकली धर्म को धर्म में जोड़ दिया । कालान्तर में वह असली और नकली बातें एक दूसरे के साथ मिलकर ऐसी शक्ल में आगयीं कि आज यह पहचानने में कठिनाई होती है कि हमारे सामने धर्म का जो स्वरूप उपस्थित है, धर्म की सुदृढ़ धारणा )

उसमें कितनी बातें असली और कितनी नकली हैं ?

इस असली नकली के सम्मिश्रण के कारण परिस्थिति ऐसी बन गयी है कि धर्म के नाम पर जो कार्य किये जाते हैं, उनमें से बहुत से पुण्य और बहुत से पाप होते हैं । आज नकली की मात्रा असली से अधिक हो गई है इसलिये धर्म के नाम पर जो कुछ किया जाता है, उसमें पुण्य का भाग कम और पाप का भाग अधिक होता है । धर्म के निमित्त जो कुछ जमा करते हैं वह फूटे पैसे के घड़े में होकर नीचे बह जाता है । फलतः अपनी सम्पूर्ण शक्ति का पांचवां हिस्सा धर्म के लिए खर्च करते हुए भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, लाभ के बदले उलटी हानि दिखाई पड़ती है ।

धर्म के नाम पर चलने वाले व्यक्ति और धर्म के नाम पर चलने वाली संस्थाओं के कार्यों पर जब हम गंभीर दृष्टिपात करते हैं तो उनके द्वारा उन्नति की बजाय अवनति के तत्व अधिक दिखाई पड़ते हैं । धर्म जिनकी घर गृहस्थी का पूरा-पूरा खर्च चलाता है, उनसे यह भी आशा करता है कि बदले में वे लोक हित की साधना करें । जनता जिन लोगों का पेट पालती है, जिनके जीवन की रक्षा करती है, उन्हें भी उचित है कि बदले में जनता की रक्षा का कार्य करें, यही तो धर्म है । नौकरी और दान में यह अन्तर है कि नौकर तो जितने पैसे लेता है उतना ही काम करके छुट्टी पा जाता है परंतु दान देने वाले की जिम्मेदारी अनेक गुनी है क्योंकि उसने पैसे के अतिरिक्त श्रद्धा को भी प्राप्त किया है, इसलिये उसे नौकरी की अपेक्षा कई गुना काम करके धर्म की मर्यादा की रक्षा करनी है । इसी प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाली संस्थाओं का कर्तव्य है कि यजमानों के हित साधन के लिये प्राप्त पैसे की अपेक्षा अनेक गुना काम करके दिखावें परन्तु हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर चलने वाले व्यक्ति और संस्थान दोनों ही इस कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त खरे नहीं उतरते । नकली कामों का फल भी नकली होगा ।

इस युग की शिकायत है कि "हमारी पञ्चमांश शक्ति को धर्म खा जाता है परन्तु बदले में झूठी कल्पनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं देता ।" इस शिकायत के उत्तर में हमारा कथन है, वह धर्म नहीं है । क्योंकि धर्म एक प्रकार की उर्वरा भूमि है जिसमें बोया हुआ बीज कई गुना होकर लौटता है । धर्म में 'नकद' होने की विशेषता है । इस हाथ लेकर उस हाथ देने का उसमें स्वाभाविक गुण है । जो धर्म की रक्षा करता है

धर्म उसकी अवश्यमेव रक्षा करता है । यदि किसी प्रकार का प्रयुत्तर, प्रत्युपकार प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि यह नकली चीज है । जिसमें न तो गर्मी हो न चमक, वह अग्नि नहीं कही जा सकती है । इसी प्रकार रक्षा करने पर भी जो न तो सुख में वृद्धि करता है और न आपत्तियों से रक्षा करता है वह धर्म नहीं है । यदि हम लोग वास्तविक धर्म की उपासना करते होते तो आज पतित, पराधीन, सुघार्थ, बीमार, बेकार और तरह-तरह से दीन-हीन न होते । धर्म के साधक की यह दुर्गति तीनों कालों में भी नहीं होती । बहुत कुछ खोने के पश्चात् अब हमें होश में आना होगा और वास्तविक धर्म को ढूढ़ना होगा, जिसकी शरण में जाने से मनुष्य की सब प्रकार की आधि-व्याधि मिट जाती है, सब प्रकार के क्लेश, कष्टों से छुटकारा मिल जाता है ।

धर्म और अधर्म की व्यवस्था करते हुए पञ्चाध्यायी में एक बहुत महत्वपूर्ण श्लोक कहा गया है -

**शक्तिः पुण्यं पुण्य फलं सम्पच्च सम्पदः सुखम् ।**

**अतोहि ध्ययनं शक्तेर्यतो धर्मः सुखावहः ॥**

अर्थ-शक्ति पुण्य है, पुण्य का फल वैभव है और वैभव से सुख प्राप्त होता है, इसलिये निश्चय से शक्ति का सञ्चय सुख कारक धर्म माना गया है ।

उपरोक्त श्लोक में सच्चे धर्म का असली मर्म खोलकर रख दिया है । जिससे अपनी-अपने समाज की शक्ति बढ़ती है वह धर्म है । विद्या, स्वास्थ्य, धन, प्रतिष्ठा, पवित्रता, संगठन, सच्चरित्रता यह सात महाबल माने गये हैं । जिन कार्यों से इन सात मार्गों में अपनी या अपने समाज की उन्नति होती हो, धर्म साधना के निमित्त उन्हीं कार्यों को करना व अपनाना चाहिए । स्वयं इन सात बलों को अपने पास एकत्रित करना धर्म कर्तव्य समझ कर सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए और ये महा सम्पत्तियाँ दूसरों को भी प्राप्त हों इसके लिये परोपकार भावना के साथ उद्योग करना चाहिए । ऐसी सभा-संस्थाओं का स्थापन संचालन और सहयोग करना चाहिए जो स्वास्थ्य की उन्नति करती हो, जिनके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती हो, आर्थिक दशा सुधरती हो, गन्दगी, मलीनता, कुरुचि हटती हो, मेल, ऐक्य प्रातृभाव बढ़ता हो तथा सद्गुणों में, सदाचार में, न्याय में वृद्धि होती हो । बलों की वृद्धि करना ही धर्म साधना का प्रधान कार्य है रक्षा करने का एक मात्र हथियार 'बल' है । धर्म का धर्म की सुदृढ़ धारणा )



गुण रक्षा करना मना गया है । इसलिये वे ही कार्य धर्म ठहराये जा सकते हैं, जिनके द्वारा हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक बल बढ़ता हो, सुख बढ़ता हो और आत्म रक्षा की क्षमता प्राप्त होती हो ।

जो व्यक्ति उपरोक्त प्रकार के कार्यों में जितने परिश्रम और लगन के साथ जुटे हुए हों उन्हें उतना ही बड़ा धर्मात्मा मानना चाहिए । हमें सच्चे धर्म को पहिचान ने की और उसी की रक्षा करने की आवश्यकता है, जिससे हमारी भी रक्षा हो । अज्ञान और आडम्बर के पर्दे को हटाकर हमें भगवान-सत्य के दर्शन करने चाहिए । सत्य का अवलम्बन करने में ही धर्म है और धर्म के ऊपर ही हमारी वैयक्तिक और सामूहिक उन्नति तथा रक्षा निर्भर है ।



मुद्रक: युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा